बी॰ए॰ भाग-3
हिन्दी प्रतिष्ठा
सप्तम पत्र-'भाषा और विभाषा'

रमेश कुमार यादव
हिन्दी-विभाग
डी॰के॰ कालेज
डुमरॉव,बक्सर

भाषा और विभाषा (बोली)

हमने देखा है कि शिक्षा, संस्कार, पालन-पोषण, व्यवसाय, सामाजिक स्थिति वातावरण आदि के भेद से व्यक्ति की भाषा का निर्धारण होता है और एक व्यक्ति की भाषा दूसरे व्यक्ति की भाषा से भिन्न हो जाती है। इसलिए यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो प्रत्येक व्यक्ति की भाषा स्वतन्त्र बोली मानी जायेगी, अर्थात् उसकी अपनी विशेषताएँ होगी जो दूसरे से भिन्न होंगी, किन्तु एक व्यक्ति की भी भाषा सदा एकरूप नहीं होती। विभिन्न परिस्थितियों में उसकी भाषा विभिन्न रूप धारण कर लेती है; उदाहरणार्थ, परिवार में बोलते समय हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, उसी का अपरिचित लोगों से मिलते समय नहीं, जिस रूप में नौकर या दूकानदार से बातें करते हैं उसी रूप में मन्त्री या राष्ट्रपति से नहीं, कार्यालय में बोलने का ढंग दूसरा होता है तो सार्वजनिक भाषण में दूसरा आनन्द के अवसरों की भाषा शोकोद्गार की भाषा से भिन्न होती है।

इस तरह स्पष्ट है कि एक व्यक्ति की भाषा परिस्थिति-भेद से भिन्न हो जाती है। फिर, वाचिक भाषा और लिखित भाषा में भी भेद हो जाता है। कोई भी बोलते समय जैसी

भाषा का प्रयोग करता है, लिखते समय वैसी ही भाषा का प्रयोग नहीं करता। लिखते समय उसकी भाषा कुछ कृत्रिम और गम्भीर बन जाती है। प्रसाद ने जो भाषा लिखी है वही बोलते नहीं थे। लिखते समय भी विषयों के अनुसार भाषा में परिवर्तन हो जाता है; जैसे पत्र की भाषा निबन्ध की भाषा से भिन्न होती है; नाटक में भाषा का जो रूप रहता है, वही शोध-प्रबन्ध में नहीं। इससे स्पष्ट है कि भाषा की भंगिमाओं की कोई सीमा नहीं है। व्यक्ति-विशेष की भी भाषा आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों से प्रेरित और नियन्त्रित होकर अनन्त रूप धारण कर सकती है।

किन्तु जहाँ भाषा में वैयक्तिक दृष्टि से भेद की इतनी सम्भावनाएँ वर्तमान हैं वहीं सामाजिक दृष्टि से उसका नियन्त्रण भी अपेक्षित है। अगर भेद पर कोई नियन्त्रण न रखा जाये तो भाषा का उद्देश्य ही नष्ट हो जायेगा। अर्थात् वह सामाजिक सम्प्रेषण की वस्तु न होकर निरर्थक जल्पन-मात्र बनकर रह जायेगी। भाषा में व्यक्ति और समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया सदा चलती रहती है। व्यक्ति सदा स्वतन्त्रता का आग्रही होता है, वह अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार सारे काम करना चाहता है किन्तु दूसरी ओर उसे समाज का भी ध्यान रखना पड़ता है।

यह बात हमारे प्रत्येक दैनिक व्यवहार में देखी जा सकती है। समाज में हम वैसा कोई काम नहीं करते जो सामाजिक दृष्टि से वांछनीय न हो। मन में इच्छा उत्पन्न होने पर भी हम उस पर अंकुश लगा देते हैं। इसी को सामाजिक शिष्टाचार कहते हैं। सामाजिक शिष्टाचार का पालन नहीं करने वाला अभद्र समझा जाता है और समाज में निन्दा का पात्र बनता है। सामाजिक दृष्टि से यह बहुत बड़ा दंड है। सामाजिकता की जो भावना खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल, उठने-बैठने, मिलने-जुलने आदि में काम करती है, वही भाषा में भी। व्यक्ति भाषा में भी स्वाधीनता चाहता है पर स्वाधीनता एक सीमा तक ही सम्भव है। जिसे पार कर जाने पर उसकी भाषा सामाजिक दृष्टि से निरुपयोगी बन जायेगी।

यदि कोई जो चाहे, जैसा चाहे बोलना शुरु कर दे तो दूसरे उसे नहीं समझ सकेंगे। थोड़ी-बहुत वैयक्तिक स्वाधीनता का अवकाश भाषा में सदा रहता है, पर उसकी भी मर्यादा है।

रमेश कुमार यादव
असिस्टेंट- प्रोफेसर
हिन्दी- विभाग
डी. के. कालेज, डुमराँव